20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 259

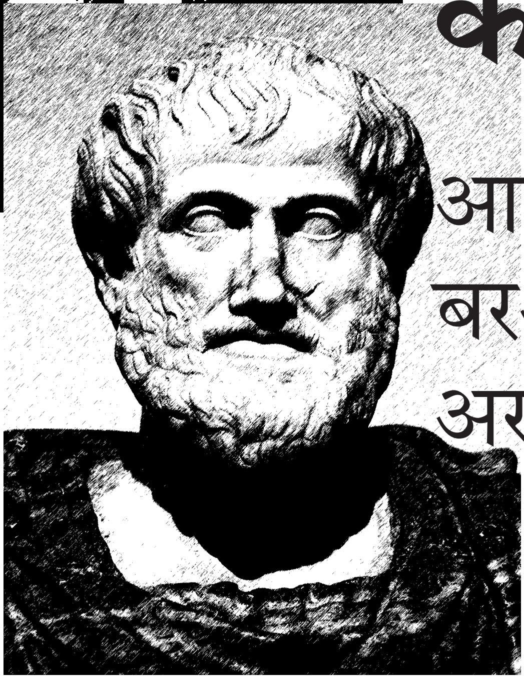

राजनीति के क़ाबिल कौन है?

आम्बेडकर बरअक्स अरस्तू

सौम्यब्रत चौधरी

अनुवाद : सुनील कुमार

विख्यात यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने अपनी रचना *राजनीति* के आठवें अध्याय में भाव-विरेचन शब्द का इस्तेमाल करके दिखाने का प्रयास किया है कि संगीत का मज़दूरों, औरतों और ग़ुलामों पर क्या प्रभाव पड़ता है। अरस्तू के मुताबिक़ औरतें और ग़ुलाम अपनी सीमित क्षमताओं के कारण भाव-विरेचक निर्मलता और प्रफुल्लता की स्थिति तो प्राप्त कर लेते हैं, पर उनके लिए संगीत कोई उच्च-कोटि की नैतिक और राजनीतिक उपयोगिता नहीं रखता। अर्थात् औरतों, ग़ुलामों और उनके जैसे दूसरे बहिष्कृत लोगों के पास वह आत्मगत क्षमता ही नहीं होती जिससे वे राजनीति से प्राप्त होने वाला रूपांतरणकारी प्रभाव आत्मसात् कर सकें। राजनीति से उम्मीद की जाती है कि वह सामाजिक, सांस्कृतिक, सौंदर्यबोधक पदार्थों एवं संदर्भों के माध्यम से व्यक्ति में अपने रूपांतरण की क्षमता पैदा करेगी। इस विचार के अनुसार राजनीतिक होने की क्षमता वह पैमाना है जो मानव नामक प्राणी को मात्र भाव-विरेचक सीमा-रेखा से ऊपर की चीज़ घोषित करता है; जबकि औरतें, ग़ुलाम और बहिष्कृत जन इस सीमा-रेखा से नीचे रहते हैं।

संविधान सभा की बहसों के दौरान डॉ. भीम राव आम्बेडकर और उनके हमख़याल सदस्यों ने आरक्षित निर्वाचक मण्डल जारी रखने के पक्ष में दलील देते हुए कहा था कि सवाल सिर्फ़ बहिष्कृत और हाशिये पर डाल दिये गये लोगों को गणतंत्र में प्रतिनिधित्व मिलने का नहीं है। जब तक कमज़ोर तबक़ों को उन राजनीतिक बहसों में भागीदारी की आदत नहीं पड़ेगी तब तक न तो प्रतिनिधित्व के नये आयाम खुलेंगे और न ही उनका विस्तार होगा। राजनीति करने की आदत डालने की प्रक्रिया पर ज़ोर देते हुए आम्बेडकर ने पूर्व-निर्धारित संकुचित दायरों के पार जाने पर ज़ोर दिया ताकि वंचित समुदाय मनुष्य को राजनीतिक बनाने वाले क्षेत्र में दाख़िल हो सकें। इस क्षेत्र की आत्मगत संरचना राजनीति करने की एक तरह की आदत के आधार पर बनी है। सीमित भागीदारी वाली गणतंत्रीय राजनीति के प्रभुत्वशाली (अरस्तूवादी?) आदर्श के ख़िलाफ़ इस लेख में दलील यह दी गयी है कि राजनीतिक कर्ता का अबाध विस्तार सम्भव है। राजनीतिक कर्ता के विस्तार की इस विधान-प्रदत्त सम्भाव्यता के संदर्भ में कम से कम तीन सवाल पैदा होते हैं : तमाम पुरानी सामाजिक-राजनीतिक आदतें निरस्त करने और उन्हें पूरी तरह छोड़ने के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व की कौन सी प्रणाली किस प्रकार की आदत के साथ संगत रहेगी? नयी राजनीतिक आदतों और प्रतिक्रियाओं के प्रवर्तन एवं अन्वेषण के दौरान भी पुरानी आदतों का निरसन कैसे बनाए रखा जाए? तीसरे, राजनीति को उसकी अनिवार्यतः रिपब्लिकन शर्तों पर कैसे स्थापित किया जाए? इसके दो विकल्प हैं : या तो राजनीतिक प्राणी वैधानिक तरीक़े से अपने महज़ प्राणी वाले दर्जे से ऊपर उठे (जैसे कि अरस्तू ने प्रस्ताव किया है कि औरतें और ग़ुलाम भावमोचक प्राणी होते हैं) या ऊपरी शर्त का नकार करते हुए अपने मौजूदा दर्जे का ही राजनीतीकरण करे (जैसा कि आधुनिक उदारतावादी, पश्चिमी क़िस्म की 'जैव-राजनीति' करती है)।

I

मैं दो दस्तावेज़ों के ज़रिये अपनी बात शुरू करना चाहूँगा। इनका रचना-काल और रचना-स्थान एक-दूसरे से बहुत दूर स्थित है। पहला दस्तावेज़ संविधान सभा में हुई अल्पसंख्यक-अधिकारों पर बहस से ताल्लुक़ रखता है। अल्पसंख्यकों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डलों की हिमायत करने वालों का कहना था कि 'सीटों का आरक्षण हमारे लिए कई तरह से फ़ायदेमंद साबित हुआ है ... इसने अनुसूचित जाति के लोगों में जागरूकता पैदा की है; उनके भीतर अपनी बेहतरी ख़ुद करने का एहसास पैदा किया है। इससे दूसरों को भी यह एहसास हुआ है कि अनुसूचित जाति के लोग भी उनके समकक्ष नागरिक हैं। उन्हें भी एक नागरिक के सब अधिकार मिलने चाहिए। इसने हमारे बीच यह मिल-बैठ कर देश की समस्याओं पर बातचीत करने और देश का भविष्य तय करने की आदत डाली है।'[1]

दूसरा दस्तावेज़ एथेंसवासी दार्शनिक अरस्तू द्वारा ईसा से पाँच सौ बरस पहले लिखी गयी पुस्तक *राजनीति* है। इस पुस्तक के आठवें अध्याय में अरस्तू युवकों को बेहतर नागरिक बनाने पर विचार करते हुए संगीत, चित्रकला, व्यायाम आदि गतिविधियों की उनकी तालीम में भूमिका की चर्चा करते हैं। संगीत के बारे में अरस्तू का कहना है :

> कुछेक दार्शनिकों ने रागों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया है। ये हैं नैतिक, व्यावहारिक और उत्तेजक। हर श्रेणी के साथ संगीत की अलग-अलग विधाएँ संबंधित की गयी हैं। हम इस वर्गीकरण को मानते हैं और (चूँकि) हम मानते हैं कि संगीत का इस्तेमाल किसी एक नहीं बल्कि बहुत से मक़सदों के लिए किया जाना चाहिए— इसका इस्तेमाल शिक्षा के लिए किया जाना चाहिए और

---

[1] सरबनी सेन (2007), *द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया : पाप्युलर सॉवरेनिटी ऐंड डेमॉक्रैटिक ट्रांसफ़ार्मेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 107.

एथेंसवासी दार्शनिक अरस्तू द्वारा ईसा से पाँच सौ बरस पहले लिखी गयी पुस्तक *राजनीति* ... के आठवें अध्याय में अरस्तू युवकों को बेहतर नागरिक बनाने पर विचार करते हुए संगीत, चित्रकला, व्यायाम आदि गतिविधियों की उनकी तालीम में भूमिका की चर्चा करते हैं। ... क्या राजनीति में अरस्तू सिर्फ़ उन्हीं लोगों की आदत से मुख़ातिब हैं जो पहले से ही नागरिकता के अधिकार और ज़िम्मेदारियों से बहिष्कृत कर दिये हैं?

भाव-विरेचन के लिए भी। भाव-विरेचन से मेरा क्या तात्पर्य है इस ओर मैं अभी मोटे तौर पर ही इंगित करूँगा, लेकिन काव्यशास्त्र संबंधी रचना में इसे स्पष्ट किया जाएगा। तीसरे, संगीत का इस्तेमाल आराम के लम्हों के दौरान मनोरंजन और मशक़्क़त से राहत पाने के लिए किया जाना चाहिए। ज़ाहिर है कि संगीत की सभी विधाओं का इस्तेमाल होना चाहिए लेकिन एक ही तरह से नहीं। शिक्षा के लिए उच्च स्तरीय नैतिक रागों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। लेकिन प्रदर्शनकारी कलाओं का प्रेक्षण करते समय व्यावहारिक और उत्तेजक संगीत का भी इस्तेमाल होना चाहिए, क्योंकि एक व्यक्ति में जो भावनाएँ सघन तीव्रता से पैदा होती हैं, उनका असर दूसरे व्यक्तियों पर कमोबेश ही पड़ता है— जैसे दया, डर या आध्यात्मिक परमानंद की भावनाएँ। कुछेक लोग आध्यात्मिक परमानंद के प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं। आत्मोत्तेजित करने वाला संगीत सुनते ही उनमें ऐसी हलचल पैदा होती है मानो उन्हें एक तरह का चिकित्सकीय उपचार या भाव-विरेचन हासिल हो गया हो। पुण्य रागों की तरह ही भाव-विरेचक राग भी अहानिकर आनंद प्रदान करते हैं। अतएव, नाट्यशाला हेतु संगीत रचना ही जिनका पेशा है उन्हें ऐसी विधाओं और रागों के इस्तेमाल की अनुमति होनी चाहिए। आख़िर दर्शक भी तो दो तरह के होते हैं। स्वतंत्र और शिक्षित लोग तो दर्शक-दीर्घा में रहते ही हैं, वहीं मज़दूर, किसान तथा उन्हीं जैसे अ-संस्कृत लोग भी वहाँ होते हैं। इन लोगों को भी तनावमुक्ति के लिए मनोरंजन में हिस्सेदारी मिलनी चाहिए ... इस लिहाज़ से सार्वजनिक प्रदर्शन करने वालों को इस तरह के संगीत के उपयोग की इजाज़त देना तो सही रहेगा लेकिन शिक्षा के लिए, जैसा कि कहा ही जा चुका है, नैतिक रागों और विधाओं का ही उपयोग किया जाना चाहिए।[2]

[2] एंड्रयू फर्ड (1995), 'कैथार्सिस : द एंशिएंट प्रॉब्लम', एंड्रयू पार्कर एवं ईव कोसोफ्सकी (सम्पा.), *पर्फ़ामिटिविटी ऐंड पर्फ़ामेंस,* रॉटलेज, लंदन तथा न्यूयॉर्क : 118-119.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 262

दोनों दस्तावेज़ों के उद्‌गम एक दूसरे से ख़ासे अलग हैं। इनके बीच अनुरूपता दिखाने की व्यर्थ और अदूरदर्शी कोशिश न करते हुए इन दोनों के बीच एक सम्भावित साझे सम्पर्क-बिंदु, जो एक विकर्षण-बिंदु भी है, पर ध्यान देना बेहतर होगा। यह सम्पर्क-बिंदु है आदत के बारे में इन दस्तावेज़ों में व्यक्त विचार। हालाँकि अरस्तू ने कहीं भी इस शब्द का इस्तेमाल नहीं किया है, फिर भी ऐसा लगता है कि वे भाव-विरेचक विधाओं और रागों का संबंध आत्मा की आनंदाकांक्षा से जोड़ते हैं जो उनके लिहाज़ से एक निम्नस्तरीय आदत है। अरस्तू के अनुसार यह आदत आत्मा में निहित निम्नतम, लेकिन अहानिकर, सामर्थ्य है। इसके उलट संविधान सभा की बहसें आदत को सकारात्मक नज़रिये से देखती हैं। उनके लिए यह आदत एक नयी सम्भावना है जिसके तहत अनुसूचित जातियाँ आरक्षण के माध्यम से समान नागरिकता के स्तर तक उठने की सम्भावनाओं से सीधे-सीधे ओतप्रोत दिखाई पड़ती हैं।

यहाँ इस सम्पर्क और विकर्षण के बिंदु का स्पष्टीकरण ज़रूरी है। ऐसा नहीं है कि अरस्तू ने आदत के सकारात्मक उपयोग का अनुमोदन नहीं किया है। इसके ठीक उलट अरस्तू युवाओं के आचरण को नैतिक अभ्यसन द्वारा सद्‌गुण और नागरिकता के अनुरूप ढालने की पैरोकारी करते हैं। यह अभ्यसन अलग-अलग रूपों में शरीर और आत्मा (यूनानी भाषा में स्यूखी) दोनों ही को आदत में ढालता है। दरअसल, सतत अभ्यास के बिना आचरण को सद्‌गुण के अनुरूप ढालना असम्भव है। यहीं सवाल उठता है कि क्या राजनीति में अरस्तू सिर्फ़ उन्हीं लोगों की आदत से मुख़ातिब हैं जो पहले से ही नागरिकता के अधिकार और ज़िम्मेदारियों से बहिष्कृत कर दिये गये हैं? इसके ठीक उलट संविधान सभा की बहसों में व्यक्त अल्पसंख्यक-समर्थक नज़रिया अब तक बहिष्कृत रही अनुसूचित जातियों की नव-स्वतंत्र आदतों को रेखांकित है। अगर इस बिंदु पर दोनों दस्तावेज़ों पर एक बार फिर से नज़र डाली जाए तो हो सकता है कि कि उनके बीच सामंजस्य, बल्कि शीर्षासनी-सामंजस्य, दिखाई पड़े, लेकिन मेरा ख़याल है कि इससे इस सवाल का नये सिरे से जवाब मिल पाएगा कि आख़िर ये किसकी आदतों की बात कर रहे हैं?

संविधान सभा का नज़रिया साफ़ तौर से कहता है, 'इसने *हमारे* (ज़ोर मेरा) बीच मिल-बैठ कर निर्णय लेने ...।' इस पूरे गद्यांश में दो कृतवाच्यों 'वे' और 'हम' का इस्तेमाल किया गया है। 'हम' का प्रयोग दो संयोजनों में हुआ है— वे के बिना और 'वे' के साथ। जिसका मतलब है नागरिकोन्मुख राजनीति में भागीदारी की एक ऐसी आदत डालना जिसके तहत एक पुनर्विन्यस्त 'हम' मिल-जुल कर देश का भविष्य निर्धारित कर सके। इसी मुक़ाम पर अरस्तू के गद्यांश पर एक बार फिर नज़र डाली जानी चाहिए : इसमें बिना किसी घुमाव-फिराव के साफ़ कहा गया है कि भाव-विरेचक आनंद सब के लिए है।

हर कोई कम या अधिक मात्रा में इस आनंद के प्रति संवेदनशील है। भाव-विरेचक राग और विधाएँ आत्मा के सरलतम और न्यूनतम विन्यस्त अंश को पसंद आते हैं, उसका स्पर्श करते हैं। आत्मा का यह अनिवार्य घटक उसकी सार्वभौम संरचना का अवयव है। इस स्तर पर सब कुछ स्वचालित/यंत्रवत् होता है, संतुलन और असंतुलन चक्रवत चलते रहते हैं। भाव-विरेचक संगीत के संदर्भ में अरस्तू द्वारा दी गयी चिकित्साशास्त्रीय उपमा इस बात पर ज़ोर देती है कि राग की औषधि डालने पर भी कर्ता में कोई मूलभूत रूपांतरण नहीं घटता। स्वचालन की प्रक्रिया फिर से शुरू हो जाती है, आत्मा की सार्वभौमिक प्राणीवत् सत्ता फिर से प्रभावी हो जाती है। इस स्तर पर न कुछ विन्यस्त होता है और न ही पुनर्विन्यस्त। लेकिन सवाल यह है कि यह पुनर्विन्यास किस स्तर पर या, किसके स्तर पर होना था?

मेरा ख़याल है कि अरस्तू ने यह सवाल उठाने से पहले ही *राजनीति* के प्रथम अध्याय में इसका जवाब दे दिया है कि संगीत का सम्भावित नागरिक की आत्मा पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस अध्याय में वे राजनीतिक प्राणी (*ज़ून पोलिटिक़ोन*) को परिभाषित करके 'बहिष्कृत जन' के साथ इस परिभाषा

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 263

के संबंध का निर्धारण करते हैं।[3] देखने की बात यह है कि यहाँ परिभाषित करने के साथ-साथ उस परिभाषा से अलग करने वाला अपवाद भी खड़ा किया जा रहा है। यहाँ एक साथ अभिधारणा भी पेश की जा रही है और उसके साथ दुराग्रह भी जुड़ा हुआ है। इन पहलुओं के अंतर्बंधन से ही उस निर्णयकारी बुनियादी ग्रिड की रचना हुई है जो राजनीतिक होने की संरचना और क्षमता के प्राचीन यूनानी दार्शनिक आग्रह का आधार है। यहीं हैं वे आग्रह जो सदियों का सफ़र तय करके भारत की संविधान सभा की दहलीज़ तक पहुँचते हैं जिसके भीतर भारतीय गणतंत्र की रागात्मक रचना हो रही थी।

राजनीति के पहले अध्याय यही बुनियादी निर्णकारी ग्रिड कुछ मानकों का प्रस्ताव करती है। इस अध्याय में अरस्तू कहते हैं कि 'मनुष्य अपनी प्रकृति में एक *ज़ून पोलिटिकोन* या राजनीतिक प्राणी है'। यह बात उन्होंने कुछ इस तरह से कही है जैसे वे किसी स्वयं-सिद्ध तथ्य या किसी अभिधारणा की घोषणा कर रहे हों। एक स्तर पर, इस के बाद हर चीज़ को या तो इस अभिधारणा से उद्‌भूत दिखाया जाता है या हर चीज़ के पीछे ऐसी युक्ति खोजी जाती है जिससे यह अभिधारणा बची रहे। दूसरे स्तर पर, अरस्तू ने वह पैमाना प्रस्तुत किया है जिसके (और बाक़ी पैमानों के) ज़रिये राजनीतिक प्राणी और बहिष्कृत के बीच फ़र्क़ निर्धारित होता है। यहाँ उन्होंने वाक्-शक्ति (*लोगोस*) को आदमी के राजनीतिक होने का पैमाना माना है। यही दरअसल उसके मानव-होने का भी पैमाना है, क्योंकि आम प्राणी या अन्य जीव-जंतु सिर्फ़ ख़ुशी या पीड़ा ज़ाहिर कर पाने वाली आवाज़ें निकाल सकते हैं, और वाक् -शक्ति इससे ऊपर की चीज़ है।[4] अतएव, मानव रूपी प्राणी के लिए राजनीतिक होने की परिभाषा सिर्फ़ यह नहीं है कि वह सुविवेचित बात कहने की क्षमता रखता है, यह भी है कि वह प्राणी-स्तर की सीमा-रेखा से ऊपर उठने, उसके पार जाने और अपना रूपांतरण कर सकने की क्षमता रखता है। इसका मतलब यह हुआ कि अरस्तू के मुताबिक़, राजनीति करने की क़ाबिलियत मनुष्य में एक ही साथ मौजूद भी है और ग़ैर-मौजूद भी। उसके ऊपर उठने की सम्भावना भी रहती है और अड़चनें या तयशुदा सीमा-रेखा के पार न जा पाने— फिर से सुख-दर्द महसूस-अभिव्यक्त करने की यांत्रिकता में सीमित रह जाने का जोखिम भी बना रहता है। अरस्तू ने पहले पैमाने के हिसाब से राजनीतिक-प्राणी एवं बहिष्कृत के बीच फ़र्क़ किया है; लेकिन इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक और पैमाना लिया गया है। यह दूसरा पैमाना इस क़वायद को विरोधाभासी बना देता है।

आम्बेडकर का लेख 'अ प्ली टू द फ़ॉरनर' भारत के स्व-शासन की पूर्व-संध्या पर लिखा गया था। यहाँ मैं इस लेख की ऐतिहासिक मीमांसा नहीं करूँगा। इस लेख में यह साफ़ करने की माँग की गयी है कि स्व-शासित भारत में शासक कौन होगा और शासित कौन; सिर्फ़ संविधान के मसविदे में नहीं बल्कि रोज़मर्रा के व्यवहार में। असल में, यह माँग नव-स्वतंत्र भारत की प्रमुख शासक पार्टी कांग्रेस के सामने रखी गयी थी।

[3] अरिस्टोटल, *पॉलिटिक्स,* लुई रोप्स लूमिस (सम्पा.), *अरिस्टोटल : ऑन मैन इन द युनिवर्स,* रोज़लिन, न्यूयॉर्क : 250, यहाँ अरस्तू होमर का हवाला देते हैं जिन्होंने बहिष्कृत को कुलहीन, विधिहीन, हृदयहीन व्यक्ति कहा है.

[4] वही : 250.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 264

अरस्तू बहिष्कृत जन को राजनीतिक प्राणी का विलोम मानते हैं। बहिष्कृत, देव हो या पशु, राज्य की संस्था से बाहर रहता है। इस वजह से वह एक क़िस्म का 'मूलभूत प्राणी है'— एक अव्यवस्थित या असंघटित हस्ती जिसके पास सम्प्रभुता तो है लेकिन क्षमता नहीं है। यहाँ तक कि यह क्षमता भी एक ही तत्त्व से बनी एकायामी होती है। इस विचार में निहित विचित्रता या विरूपता बढ़ती चली जाती है जब हम देखते हैं कि अरस्तू ने अपनी रचना में बहिष्कृत जन (अक्षम सम्प्रभु) के तौर पर दैवी हस्तियों के अलावा औरतों, ग़ुलामों, मज़दूरों, बच्चों और परदेसियों को ही बार-बार दिखाया है, यानी कुल मिला कर वे सब लोग जिन्हें राजनीतिक प्राणी के दर्जे से तो बाहर रखा गया है— लेकिन जो राजनीतिक प्राणी द्वारा शासित होते हैं।[5] यह अरुचिकर विरोधाभास कैसे समझा जाए? इस प्रश्न का उत्तर *राजनीति* के आठवें अध्याय में है जहाँ अरस्तू इसकी भाव-विरेचक युक्ति निकालते हैं जिसके मुताबिक़ असंघटित और बहिष्कृत मूलभूत स्वभाव, जो कि राजनीतिक संस्थाओं के प्रति उदासीन बना रहता है, मनुष्य की सार्वभौम प्रकृति है। अरस्तू का मानना है कि मूल रूप से और सांगीतिक रूप से हम सब बहिष्कृत जीव हैं, सब सम्प्रभु हैं; और ऐसे उदासीन सम्प्रभु को भी संगीत ओछी और भाव-विरेचक क़िस्म की उत्तेजना दे सकता है। भाव-विरेचन की इस हालत में ही राजनीतिक वर्गीकरण करने वाला क्षण या सीमा-रेखा आती है। इसी सीमा-रेखा पर व्यक्ति की सार्वभौम प्रकृति या सत्व को उसकी बहिष्कृत सम्प्रभुता से पृथक् कर उसे समावेशन या बहिष्कार के ख़ानों में बाँटा जाता है। मतलब यह कि एक संरचना ख़ुद को दो हिस्सों— प्राकृतिक और राजनीतिक— में बाँट लेती है हालाँकि दोनों ही में एक-दूसरे का अवशेष बचा रहता है। अतएव, नागरिक के तन-मन के नैतिक अभ्यसन की दिशा में किये गये हर प्रयास के बावजूद— चाहे यह संगीत की भाव-विरेचक विधा से इतर विधाओं के ज़रिये किया जाए— उसमें मूलभूत यांत्रिकता और सम्प्रभु प्राणी की आदतें सदैव बची रहेंगी। अरस्तू इस बात से बख़ूबी वाक़िफ़ हैं कि राजनीतिक प्राणी की सम्प्रभुताओं और क्षमताओं, शासन और आज़ादी की द्वैतमूलक दर्जाबंदी के बावजूद उसमें विपरीत गुण बचे रहते हैं।

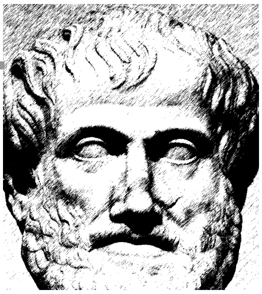

अरस्तू ने अपनी रचना में बहिष्कृत जन (अक्षम सम्प्रभु) के तौर पर दैवी हस्तियों के अलावा औरतों, ग़ुलामों, मज़दूरों, बच्चों और परदेसियों को ही बार-बार दिखाया है, यानी कुल मिला कर वे सब लोग जिन्हें राजनीतिक प्राणी के दर्जे से तो बाहर रखा गया है— लेकिन जो राजनीतिक प्राणी द्वारा शासित होते हैं।

क्या यहाँ अरस्तू आम्बेडकर की मान्यता के समरूप मान्यता का प्रतिपादन कर रहे हैं? आम्बेडकर का भी तो मानना था कि जाति प्रथा ने सम्प्रभुताओं को अलग-अलग दर्जों में बाँट कर उनकी सीमा-रेखाएँ निर्धारित कर दी थीं।[6] फ़िलहाल मैं दोनों के बीच सैद्धांतिक तुलना को बाद में चर्चा के लिए छोड़ कर यह स्पष्ट करने की कोशिश करना चाहूँगा कि इस तरह की तुलना में क्या-कुछ दाँव पर

---

[5] अरस्तूवादी रूपरेखा में बहिष्कृत व्यक्तित्व को अलगाव और अन्याय से संबंधित किया गया है. इसलिए समाज हेतु न्याय के सिद्धांत की आवश्यकता और इस सिद्धांत के प्रशासन-कार्यान्वयन के लिए नियम या शासन जरूरी हो जाता है. वही : 251.

[6] आम्बेडकर ने अपने शोध-प्रबंध में भारत में जाति-प्रथा की संरचना, इसके विभिन्न अंगों की गतिहीन अवस्थिति और वक़्त के साथ समाज को इस प्रथा की आदत पड़ जाने संबंधी विषयों का विश्लेषण किया था. यहाँ उसी ओर इंगित किया गया है. इस विषय पर उनकी तर्कणा के सभी पहलुओं को जानने के लिए देखें, डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, 'कास्ट इन इण्डिया तथा ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट', वसंत मून (सम्पा.) (1989), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 1, बोंबे एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र : 5-96.

लगा होता है। या यह प्रक्रिया एक दाँव ही है क्योंकि दोनों ही मान्यताएँ एक तरह की संघबद्धता या सभा के निर्माण की वकालत करती हैं जो समावेशन और बहिष्कार की प्रक्रियाओं के द्वारा समाज की एक द्वैतमूलक संरचना के रूप में उभरती हैं, इस संरचनात्मक द्विभाजन को लामबंद करती हैं, इसे गतिशीलता देती हैं। जब अरस्तू यह साधारण सी बात कह रहे होते हैं कि थियेटर के दर्शक दो भागों में बँटे हुए हैं (एक तरफ़ मज़दूर, औरतें, ग़ुलाम आदि तथा दूसरी तरफ़ शिक्षित अभिजात वर्ग) तब दरअसल वे राजनीतिक व सामाजिक रूप से वर्गीकृत प्रत्येक संरचना में द्वैत दिखाकर राजनीतिक संघबद्धता में द्वैत की उपस्थिति स्वीकार कर रहे होते हैं तथा साथ ही इस द्वैत को स्पष्ट करने और इसके पार जाने की कोशिश का आग़ाज़ कर रहे होते हैं। नैतिक एवं राजनीतिक अभ्यसन के हर स्तर पर यह ज़रूरी हो जाता है कि सार्वभौम सम्प्रभु प्राणी और भाव-विरेचक स्वभाव का एक हद तक अस्तित्वमीमांसक समावेशन हो। जनसमूह को स्तर-दर-स्तर अभ्यास की प्रक्रिया में लाया जाता है तथा इस प्रकार बहिष्कृत स्वभाव के पूर्ण निष्कासन की बजाय इसे नियमित अथवा शासित करने का प्रयास किया जाता है। भारत में जाति प्रथा की ऐतिहासिक तौर पर दो हज़ार साल से भी लम्बी परम्परा— इसके समर्थक तो कहा करते हैं कि यह प्रथा अनादिकाल से ही विद्यमान है— ने इसे समाज की जड़ों में रूढ़ कर दिया है। आम्बेडकर के लिए मुख्य सवाल यह था कि क्या उनके ज़माने के भारत में जाति प्रथा अपने लम्बे अतीत का ही अवशेष रूप थी? क्या यह अपने अतीत के व्यवस्थागत, संरचनात्मक या संबंधात्मक रूप का ही नि:शेष थी? आम्बेडकर ने इसी सवाल को अधिक खरे तौर पर सामने रखा जब उन्होंने ब्राह्मणीय जाति प्रथा और रोमन क़ानून द्वारा निम्नवर्गीय आबादी के साथ किये गये व्यवहार के बीच तुलनात्मक चर्चा की। लेकिन, इस पर विस्तृत चर्चा मैं बाद में करूँगा।

अरस्तू की यह वक्रोक्तिपूर्ण स्वयंसिद्ध मान्यता कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है— जिस घटनाक्रम की शुरुआत करती है, यहाँ मैं उसी को सार-रूप में प्रस्तुत करना चाहूँगा। यह मान्यता वक्रोक्तिपूर्ण है क्योंकि इसमें यह विपरीत मान्यता भी न्यस्त है कि मानव-स्वभाव राजनीति के प्रति उदासीन रहने वाली भावनाओं के वश में रहता है। पहली बात तो यह कि यहाँ बहिष्कार का मतलब पूर्ण अलगाव नहीं है, राजनीतिक कर्ता में ही बहिष्कार, अक्षमताएँ और अपनी अस्तित्वहीनता निहित है। इसका यह मतलब है कि राजनीतिक कर्ता सतत रूप से राजनीतिक्षम भी होता है। बात का दूसरा सिरा यह है कि राजनीतिक क्षमता की इस राजनीतिक्षम वाली युक्ति के ही हिसाब से हर कोई राजनीतिक है; सब का राजनीतीकरण किया जा सकता है, और किया जाना चाहिए। तीसरा सिरा यह कि व्यवहार में ऐसा हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को— चाहे वह कितना ही बहुलतामूलक जीवन क्यों न जी रहा हो— दो संख्याओं में तोड़ा या बाँटा जा सकता है, जैसे सम्मिलित जन और बहिष्कृत जन, मालिक और ग़ुलाम, मनुष्य और प्राणी। इस तरह यह घटनाक्रम घूम कर पहली वाली ही जगह पर आ ठहरता है और घटनाओं का एक चक्र बँध जाता है। यहाँ से अरस्तू पश्चिमी राजनीतिक दर्शन के क्लासिकल सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं।

II

यह तो साफ़ ज़ाहिर है कि डॉ. आम्बेडकर उसी मत के समर्थक थे जिसने संविधान सभा में मिल-जुलकर देश के भविष्य से संबंधित निर्णय लेने की आदत की हिमायत की थी। सम्मिलित रूप से निर्णय लेने की इस आदत का बीजारोपण आरक्षण के प्रावधान ने किया। इस प्रशंसनीय विचार ने, जैसा कि मैं पहले ही दिखा चुका हूँ, 'वे' और 'हम' के बीच के विभाजन से आगे बढ़ कर समाज में अब तक चली आ रही श्रेणीबद्धता का निषेध किया और उसे एक नया समतावादी आयाम दिया। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि आम्बेडकर पश्चिम के उदार संविधानवाद द्वारा प्रेरित किसी स्वाभाविक

संवैधानिक सहज-क्रिया या आदत के विचार से सहमत नहीं थे। अपने लेख 'अ प्ली टू द फॉरनर' में आम्बेडकर ने तफ़सील से यह दिखाया है कि हर क़िस्म की संवैधानिक परियोजना में, दरअसल हर क़िस्म के सम्प्रभुतावाद को परिस्थिति की अपरिवर्तनीयता एवं आकस्मिकताओं के तक़ाज़ों का भी ध्यान रखना होता है।[7] इस आलोचना के मुताबिक़ संवैधानिक आदत का सिद्धांत, अरस्तू द्वारा बनाई गयी ग्रिड के अनुसार, संवैधानिक नैतिकता के अभ्यसन की ओर ले जाता है, लेकिन यह मात्र स्व-शासन मुहैया कराने वाले संविधान के *रूप* का विकास करता है, वास्तव में स्व-शासन उपलब्ध नहीं कराता।[8]

आम्बेडकर का लेख 'अ प्ली टू द फॉरनर' भारत के स्व-शासन की पूर्व-संध्या पर लिखा गया था। यहाँ मैं इस लेख की ऐतिहासिक मीमांसा नहीं करूँगा। इस लेख में यह साफ़ करने की माँग की गयी है कि स्व-शासित भारत में शासक कौन होगा और शासित कौन; सिर्फ़ संविधान के मसविदे में नहीं बल्कि रोज़मर्रा के व्यवहार में। असल में, यह माँग नव-स्वतंत्र भारत की प्रमुख शासक पार्टी कांग्रेस के सामने रखी गयी थी। चूँकि आम्बेडकर इस माँग को बहुत अहम मानते थे, लिहाज़ा उन्होंने इसे तथाकथित विदेशियों के नाम सम्बोधित किया ताकि इस माँग के हक़ में सार्वदेशिक हलक़ों का समर्थन जुटाया जा सके। इस लेख में ब्रिटेन में कांग्रेस के हमदर्द गुटों— उदारतावादियों और समाजवादियों— के बीच इस विचार की घुसपैठ करने की कोशिश भी निहित थी। लेकिन इसके साथ-साथ यह लेख पश्चिमी उदारतावादी-संविधानवादी राजनीतिक दर्शन (इस दर्शन की आत्मगत अधिरचना लोकतांत्रिक समझी जाने वाली आदतों और सहज-क्रियाओं से ही बनती है) के औज़ारों का इस्तेमाल करता हुआ भी दिखता था। आम्बेडकर द्वारा किये गये उपरोक्त विश्लेषण का संदर्भ था सामाजिक बहिर्वेशन का मुद्दा, वह बहिर्वेशन जिसकी संरचना और संस्थिति एकदम अपरिवर्तनीय थी। आम्बेडकर 'राजनीतिक' कर्ता में रूपांतरित होने के बजाय उसके प्रतिरोध का मुक़ाम को रेखांकित कर रहे थे। आम्बेडकर द्वारा की गयी कांग्रेस की पूरी आलोचना इस बिंदु से निकलती थी कि कांग्रेस का बहुसंख्यकवादी और गाँधीवादी चोला समाज का विभाजित यथार्थ ढँकने के लिए संयुक्त समाज या एकताबद्ध समाज का आभास गढ़ने का काम करता था। मिली-जुली जनता को अपील करने वाली कांग्रेस की विचारधारा और जनाधारित संगठन हिंदूवादी और सेकुलर मान्यताओं से बने खिचड़ी मानस का प्रतिनिधित्व करते थे।

इस लेख में आम्बेडकर की आलोचना दो स्तरों पर अभिव्यक्त हुई : पहले स्तर पर सम्भावित मित्र के रूप में देखे गये तथाकथित सार्वदेशिक विदेशी की आलोचना इस बिना पर की गयी कि वह ख़ुद को प्राकृतिक-राजनीतिक सम्पूर्णता तथा पूरी मानवता को प्राणी स्तर के जीवन से मुक्ति दिलाने के विचार का तरफ़दार मानती/मानता था। आम्बेडकर चाहते थे कि लोकतंत्र के पक्षधर उदारतावादी और समाजवादी 'हिंदू अपवाद' की हक़ीक़त के बारे में जानें। आम्बेडकर उन्हें बताना चाहते थे कि हिंदू-विचार प्राणी में निहित बोधगम्यता की विशेषता स्वीकार करने से इनकार करते हुए मानता है कि उसकी (प्राणी की) आदतें, आनंद एवं कष्ट की प्रकृति असामाजिक है। यह विचार कुल मिला कर प्राणी मात्र को यांत्रिक और भाव-विरेचक जीवन प्रक्रियाओं से सम्बद्ध मानता है। इसके विपरीत हिंदू समाज के अछूतों के बीच आपस में गहरा सामाजिक जुड़ाव मौजूद है। इसी वजह से वे नियम, क़ानून, निषेध और आज्ञा-पालन की मानवीय आदतों से सम्पन्न हैं। व्यक्ति और समाज के बीच संबंधों की गहनता की इस परम्परा के कारण वे हिंदुओं से बिलकुल अलग हैं। उनके बीच जाति या जाति-

---

[7] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, 'अ प्ली टू द फॉरनर', वसंत मून (सम्पा.) (1991) *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 9, बोंबे एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र : 199-238.

[8] वही : 202-203.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 267

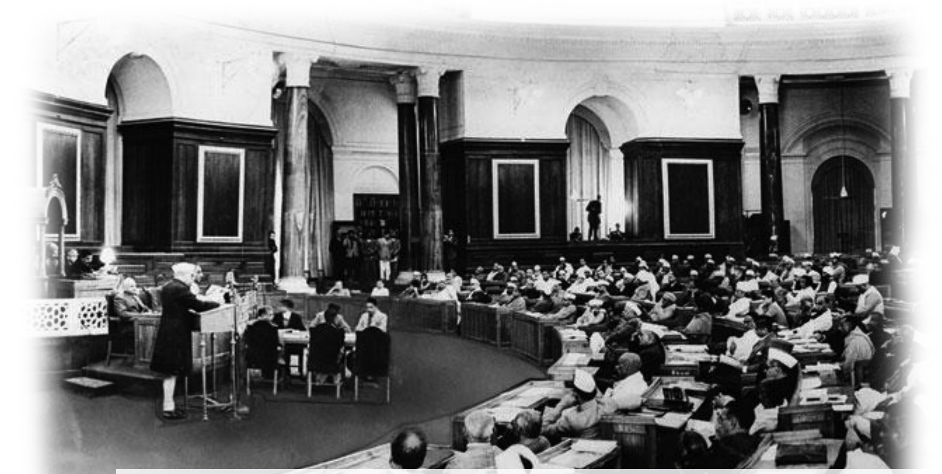

संविधान सभा का नज़रिया साफ़ तौर से कहता है, 'इसने *हमारे* (ज़ोर मेरा) बीच मिल-बैठ कर निर्णय लेने ...।' इस पूरे गद्यांश में दो कृतवाच्यों 'वे' और 'हम' का इस्तेमाल किया गया है। 'हम' का प्रयोग दो संयोजनों में हुआ है— वे के बिना और 'वे' के साथ। जिसका मतलब है नागरिकोन्मुख राजनीति में भागीदारी की एक ऐसी आदत डालना जिसके तहत एक पुनर्विन्यस्त 'हम' मिल-जुल कर देश का भविष्य निर्धारित कर सके।

बहिष्कार की किसी धारणा का कोई अस्तित्व नहीं है, अस्पृश्यता के विचार का कोई चिह्न तक उनके मस्तिष्क में मौजूद नहीं है।[9]

दूसरे स्तर की आलोचना का निशाना थी कांग्रेस, ख़ास तौर से गाँधी। एक वैकल्पिक राजनीति के आह्वान तक ख़ुद को सीमित न रख कर आम्बेडकर ने कांग्रेस और गाँधी पर अभियोग लगाया कि कांग्रेस निचली जातियों को अपने जुझारू जन-संगठनों के तंत्र और विचारधारात्मक बनावट से बाहर रख कर लम्बे समय से चले आ रहे सामाजिक बहिर्वेशन को बरक़रार रखना चाहती है और इस रणनीति के सरगना महात्मा गाँधी हैं। आम्बेडकर यह हक़ीक़त स्वीकारने वाले पहले व्यक्ति थे कि दक्षिण अफ़्रीका से गाँधी का आगमन ही कांग्रेस के रूपांतरण का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक था। इससे पहले कांग्रेस राजनीतिक सुधारों हेतु लामबंदी करती थी, पर इसके बाद वह रणनीतिक आज्ञप्तियाँ ज़ारी करने लगी जिनके कार्यान्वयन की भूमिका जनता को दी जाने लगी।[10] हिंदू समाज के ढाँचे में थोड़े से हस्तक्षेप के ज़रिये गाँधी ने इस अद्भुत कारनामे को अंजाम दे डाला। और, हिंदू समाज तो कोई समाज जैसा भी न था। इसकी संरचना में एकता का कोई आभास तक न था। यह बँटे-छँटे

[9] यह जाति के बारे में आम्बेडकर की समझ और इस विषय में तत्कालीन पश्चिमी रुझान के बीच महत्वपूर्ण मतभेद-बिंदु है. आम्बेडकर जाति को धारणा, संरचना और विभिन्न घटकों का संयोग मानते हैं. चाहे निचली जातियों के दमन के दौरान उन्हें अशुद्ध, पशुवत और अध:पतित जातियों के रूप में प्रस्तुत करने का संदर्भ हो या सामाजिक सुधार द्वारा उनका उद्धार करने का. आम्बेडकर के लिए जाति, जिस तरह फ्रैंज़ फ़ानो के लिए नस्ल थी, अपनी आदत के विरुद्ध सोचने का मसला था. अत:, अछूत की धारणा बन जाने के बाद उसे इस अर्थ में परिभाषित नहीं किया जाता था कि वह अशुद्ध है बल्कि शुद्धता और अशुद्धता को अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित करने वाली एक संरचना उसकी पहचान तय करती थी.

[10] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर (1991), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़*, खण्ड 9 : 20.

समूहों का एक जमावड़ा भर था कि अशुद्ध कौन है, किसे देखा न जाए, किससे बोलना नहीं है आदि। इस समाज को तो बस निषेधाज्ञाओं ने आपस में बाँध रखा था। हक़ीक़त तो यह है कि हिंदू समाज ख़ुद से ही अलगाव में जीता था, इसे सामूहिक रूप से रहने की आदत भर पड़ गयी थी, और इसी आदत ने इसकी योजनाबद्धता और पागल तर्कसंगति के सब निशान मिटा गये थे।[11] गाँधी ने हिंदू समाज की संरचना में कोई दख़लंदाज़ी नहीं की, ख़ासतौर से शुरुआती दौर में जब तक उन्होंने सामाजिक सुधार का मिशन हाथ में नहीं लिया था। न ही कांग्रेस ने उन्नीसवीं सदी में अपनी स्थापना के समय इस ओर रुख़ किया था। गाँधी ने हिंदुओं को एक जुझारू जन-कार्यक्रम दे दिया जिसका ज़ोर इस बात पर था कि हिंदू समूहवाद और बहिर्वेशन को एक सेकुलर और राजनीतिक समूह की तरह प्रस्तुत किया जाए, ढाला जाए; न कि उसे इस रूप में परिवर्तित किया जाए।

यह बात आम्बेडकर द्वारा कांग्रेस और गाँधी पर लगाये गये आरोप, बल्कि अभियोग का सार-तत्त्व है। आम्बेडकर का ख़याल था कि गाँधी ने हिंदुओं को प्रेरित करने की अपनी शानदार रणनीति और तर्क-योजना के दायरे से निचली जातियों को, अछूतों को ख़ासतौर से बाहर रखा। गाँधी से प्रेरित होने वाला यह हिंदू भी एक टुकड़ा-टुकड़ा, विभाजित अस्तित्व जीता था। यह एक गौण/अल्पसंख्यक अस्तित्व (मात्र अस्तित्ववादी अर्थ में, न कि संख्या के अर्थ में), एक तरह के एकीकृत *राष्ट्रीय ऋण* की तरह था। कुछेक आने का छोटा सा मेम्बरसाज़ी का शुल्क दे कर यह विभाजित हिंदू जन-कार्रवाई के समग्र का अंश बन सकता था। गाँधी ने इस व्यक्तिगत और समेकित क़र्ज़ को उतारने की एक और विधि खोज कर समाज को थमाई कि हर आदमी अपने हाथ से दो हज़ार गज़ कपड़ा बुन कर यह ऋण चुकाने में भागीदारी कर सकता है।[12] आम्बेडकर ने इस असाधारण रूप से परिष्कृत रणनीति के ख़िलाफ़ अभियोग लगाया कि इस नव-रचित समूह ने अछूतों को ऋण में भागीदार स्वीकार न करके उन्हें इस कार्यक्रम से बहिर्वेशित कर दिया है। आख़िर गाँधी अस्पृश्यता उन्मूलन का कार्यक्रम चला रहे थे और उन्होंने ग़ैर-हिंदुओं तक को इस हिंदू सेकुलर प्रक्रिया में भाग लेने का निमंत्रण दिया था। इसके बावजूद अछूतों को इस प्रक्रिया से दूर क्यों रखा गया? इस सवाल का जवाब यह है कि गाँधी ने हिंदुओं को अछूतों के हित में अछूत की तरह[13] लामबंद करने के लिए अपने व्यक्तिगत प्राधिकार और रणनीतिक प्रतिभा का इस्तेमाल कभी नहीं किया, बावजूद इसके कि अस्पृश्यता की समस्या को राजनीतिक रूपांतरण और समागम की संरचनाओं में बदलने की ज़रूरत पर किसी को संदेह नहीं था। जब तक अछूत लोगों (बहिष्कृत जातियों) के अंदर अपने बहिष्कार के प्रति क़र्ज़ के अहसास को एक समूह और राजनीतिक सभा या समागम के रूप में पहचान न मिले तब तक वे राष्ट्रीय ऋण चुकाने की गाँधीवादी और कांग्रेसी प्रक्रिया में आम हिंदू के तौर पर शामिल नहीं किये जा सकते थे। तब तक के लिए अछूतों को हिंदूवाद के रहमो-करम पर छोड़ दिया गया था। आम्बेडकर द्वारा हरिजन सेवक संघ की आलोचना में यह देखा जा सकता था। हालाँकि अछूतों

---

[11] जाति-व्यवस्था को एक पागलपन के तौर पर दिखाने के संदर्भ आम्बेडकर के यहाँ बहुत बार मिलते हैं. वे कहते हैं कि जाति-व्यवस्था के समर्थक सच में ही पागल हैं. जाति-व्यवस्था के बारे में जैसे विधान मनु ने किये हैं उन्हें देख कर लगता है कि वे ऊँचे दर्ज़े का पागल रहे होंगे. जब गाँधी सह-भोज का इस बुनियाद पर नकार करते हैं कि खाना मलोत्सर्ग जितना ही घिनौना काम है और इसी वजह से अकेले में किया जाना चाहिए तो आम्बेडकर गाँधी में भी इस पागलपन के कुछेक निशान देख लेते हैं. फिर भी, मुझे लगता है कि जाति जैसी सर्वव्यापक व्यवस्था को सिर्फ़ पागलपन भर कह के छोड़ देना इस समाज की सोच में निहित प्रयोजनों और स्वभाव (आदत?) को धुँधला कर देना है। जाति का असल पागलपन, इसकी विसंगति, यह थी कि इस व्यवस्था को पागल माना ही नहीं जाता था.

[12] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर (1991), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 9 : 246.

[13] वही. ये तथ्य भी आम्बेडकर के इस मत की पुष्टि करते हैं. गाँधी ने कहा था कि हिंदू लोग एक अछूत को अपने घर में काम देकर इस ऋण से मुक्त हो सकते हैं और इस निर्देश का पालन न करने का मतलब था कि उन्हें राष्ट्रवादी पार्टी (कांग्रेस) या सभा की सदस्यता एवं उसमें मताधिकार से वंचित कर दिया जाएगा.

को हरिजन घोषित करने पर दैवी प्रभावमण्डल आरोपित किया जाता था और हिंदुओं द्वारा अपने पाप (छुआ-छूत) के प्रायश्चित का माहौल था, फिर भी इस सब के बीच अछूतों को जन-कार्रवाई से अलग रखने पर उन्हें गहरी आपत्ति थी, और वे एक अभियोग की तरह इसकी भर्त्सना करते थे।[14]

आम्बेडकर ने 'ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट' की रचना समाज-सुधार के पक्ष में लिखे गये एक भाषण के रूप में की थी। चूँकि वे अपनी हिंदू आदतें अपने ख़ुद के जीवन से मिटा देना चाहते थे, इसलिए इस भाषण को रद्द कर दिया गया। इस भाषण के प्रकाशन के बाद पत्रों के ज़रिये उन्होंने गाँधी के साथ समानता के मुद्दे पर बहस की शुरुआत की। उन्होंने गाँधी और आर्यसमाजियों के विपरीत भगवान की नज़रों में समानता को नहीं बल्कि इस विषम संसार में मुक़म्मल बराबरी के लक्ष्य पर ज़ोर दिया।[15] यह विषमता के ठोस यथार्थ के बीच समानता का आग्रह था! किसी भी समतावादी दर्शन के लिए यह आम्बेडकर का मूलभूत प्रश्न यह था : चूँकि असमानता कई रूपों में विद्यमान है— वह सामाजिक-ऐतिहासिक और शारीरिक है—क्या क्या ऐसी असमानताओं के बीच हम समानता का बर्ताव करने के लिए तैयार हैं?[16] आम्बेडकर समानता के बारे में अपनी तरफ़ से जिस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं, वह न तो ईश्वरीय अनुमोदन या कृपा पर आधारित है न समानता की सम्भावना का दावा करने वाली किसी सीमा-रेखा पर निर्भर है। अरस्तू द्वारा पेश की गयी उस सीमा-रेखा पर भी नहीं जिससे मनुष्य को ऊपर उठना पड़ता है और जिसके लिए राजनीतीकरण की प्रक्रिया ज़रूरी होती है। भविष्य में जीव-विज्ञानियों और अर्थशास्त्रीय दार्शनिकों को इसी आधार पर 'एनिमल स्पिरिट' की चर्चा करने का मौक़ा मिला था।

लेकिन, अगर आम्बेडकर इस तरीक़े से समानता के अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं और साथ ही यह आग्रह भी करते हैं कि अछूतों को हिंदुओं से अलग माना जाए तथा उन्हें अलग मतदाता-मण्डल मिलें; तो क्या यह 'स्वयंसिद्ध' क़िस्म की समानता का सिद्धांत उनके इस विचार के ख़िलाफ़ नहीं जाता कि जाति-प्रथा को अपनी विभाजित संरचना का ही निःशेष समझा जाना चाहिए, और क्या उनका यह विचार उनके ही इस आग्रह का विरोधी नहीं है कि अछूतों को न केवल विचार के धरातल पर अलग माना जाए बल्कि उन्हें पृथक् मतदाता-मण्डल भी मिलने चाहिए? 'आर द अनटचेबल्स अ सेपरेट ऐलिमेंट?' और 'अ प्ली टू द फॉरनर' जैसे लेखों में हम आम्बेडकर को आरक्षण और मतदाता-मण्डलों के विभाजन के पक्ष में एक ऐसी आग्रही मुहिम चलाते हुए देखते हैं जो सामर्थ्य के साथ-साथ अवसर बढ़ाने और ऐतिहासिक अन्याय में संशोधन करने के 'समुचित' उपायों को धीरज से आगे बढ़ाते रहने के पक्ष में नहीं लगती। आम्बेडकर की मान्यता थी कि विचारों पर किसी की इजारेदारी नहीं होती, इसलिए अगर कोई समानता के सिद्धांत को स्वयंसिद्ध मानते हुए आगे बढ़ा जाए तो ब्रितानी हुकूमत के तहत अनुसूचित जातियों को एक तरह के नागरिक अधिकार मुहैया हो सकते हैं। ऐसी सूरत में तात्कालिक मुद्दा आरक्षण के माध्यम से महज़ सामर्थ्य के समरूपीकरण का नहीं रह जाएगा। चूँकि हिंदू (अ)समाज ने अनुसूचित जातियों के लिए उनके सामर्थ्य और अधिकारों का उपभोग करने के सब रास्ते बंद कर रखे हैं, इसलिए वैधानिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में मिले संरक्षण और आरक्षण को अधिकारों और सामर्थ्य के उपभोग के लिए मिले क़ानूनी-संवैधानिक प्रेरक के तौर

---

[14] अछूतों के मंदिर-प्रवेश के अधिकार के लिए गाँधी की कोशिशें भी इस आलोचना की ज़द में आती हैं. अछूतों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार दिलवाने के लिए विधेयक लाने या उन्हें यह अधिकार दिलवाने के लिए उपवास करने दोनों ही सवालों पर गाँधी ढुलमुल रवैया अपना रहे थे. आम्बेडकर का कहना था कि अब असल मसला यह नहीं था कि अछूत मंदिरों में जा सकते हैं या नहीं बल्कि असल मसला था गाँधी के साथ अछूतों के अनुभव, अपने अनुभवों के आधार पर उनके द्वारा गाँधी का मूल्यांकन और उनका यह निर्णय कि वे गाँधीवाद से अलग राह अपनाना चाहते हैं या उसके साथ बने रहना चाहते हैं.

[15] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर (1991), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 9 : 87-88.

[16] वही : 58.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 270

पर इस्तेमाल करने की परिस्थिति बन सकती है।[17] आम्बेडकर का यह विचार अधिक गहरे रूप में इस हक़ीक़त का भी मुज़ाहिरा करता है कि हिंदू समाज तो अछूतों का बहिष्कार कर चुका है, उन्हें त्याग चुका है, और इसलिए हिंदू समाज ख़ुद से ही विलग हो चुका है और ख़ुद अपने लिए ही अभिशाप बन चुका है; और इसी वज़ह से वह ख़ुद में कोई समाज नहीं रह गया है। आम्बेडकर का कहना था कि गाँधी कभी यह विचार स्वीकार करने के लिए तैयार हो ही नहीं सकते कि जाति-प्रथा हिंदूवाद के लिए भस्मासुरी शाप थी। इस विचार को स्वीकार करने की बजाय उन्होंने झाड़ू-बुहारी करने की अछूतों की जन्मजात ज़िम्मेदारी के प्रति सुधारकों के व्यवहार पर ऋणभाव और प्रेम जैसे तर्कों का पेचीदा जाल आरोपित कर दिया।[18] यहाँ आम्बेडकर दिखाना चाहते हैं कि इस संवेदनशील समय और सुधारवादियों द्वारा सुझाए जा रहे विधानों, या प्रेमपूर्ण व्यवहार, के माहौल में भी महात्मा जाति के बारे में रत्ती भर भी नहीं सोच रहे थे।[19]

ऐनी बेसेंट का विचार था कि सामाजिक एकीकरण की राह मुश्किल है क्योंकि निचले वर्गों/जातियों को सुधारना नामुमकिन है। बेसेंट के समर्थक इस हालत के लिए अछूतों को इस दलील के आधार पर क़सूरवार नहीं ठहराते थे कि उनकी मलिन और आत्मसातीकरण के अयोग्य आदतों में अपने अपमान-बोध का कोई निशान बाक़ी नहीं बचा है।[20] ज़ाहिर है कि छुआछूत ख़त्म करने के लिए व्यवहार में परिवर्तन लाने का गाँधी का कार्यक्रम आख़िर ऐनी बेसेंट जैसे लोगों के कार्यक्रम से तो काफ़ी बेहतर था। आख़िर आम्बेडकर के पास इस तथ्य का क्या विश्लेषण है ? उनका विश्लेषण गाँधीवादी तर्क की कई विशेषताएँ सामने लाता है और मनमानी, गुप्त और विकृत तर्कपद्धति का ख़ुलासा कर देता है जिसके ज़रिये गाँधी जन्मना जाति प्रथा क़ायम रखना चाहते थे। अपनी रचना 'गाँधीइज़्म' में आम्बेडकर गाँधीवाद की बुनियाद में सामाजिक मिलनसारिता का एक सादा-सरल मॉडल ढूँढ निकालते हैं। इस मॉडल को प्राणी मॉडल कहा जा सकता है। शायद अरस्तू के भाव-विरेचक समगतिशीलता वाले प्राणी के अर्थ में नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि यहाँ आत्मनिर्भर बनने के संदर्भ श्रम को बार-बार दोहराये जाने पर ज़ोर है। दूसरे मानव समुदायों के साथ बोधगम्य सम्पर्क बनाने की ज़रूरत के बरअक्स इस मॉडल का विस्तार करने की सूरत में भी आत्म-निर्भरता ही इस विचार के केंद्र में रहती है। आध्यात्मिक आत्म-निर्भरता प्राप्ति के प्रयासों को श्रम के इसी दोहराव वाला सिद्धांत आधार प्रदान करता है; मानो आध्यात्मिक आत्म-निर्भरता एक रचनात्मक अनुभव हो, सिर्फ़ दोहराव या आदत की हद तक महदूद न हो। *हिंद-स्वराज* के दिनों में और कई अन्य संदर्भों में गाँधी ने प्रौद्योगिकीय आधुनिकता के साथ आ रही तथाकथित फ़ुरसती संस्कृति की भर्त्सना की थी। वे इसके ख़िलाफ़ आक्रमण का कोई मौक़ा हाथ से नहीं जाने देते थे, क्योंकि फ़ुरसती संस्कृति आत्म-निर्भरता के सिद्धांत को अपवित्र करती थी। आम्बेडकर की मान्यता थी कि आराम की लानत-

---

[17] आम्बेडकर के इस आग्रह को सिद्ध करने के लिए काफ़ी प्रमाण उपलब्ध हैं. फिर भी हमें इस उपयोग को सिर्फ़ मूलभूत मानव-क्षमता को सिद्ध करने वाले (और, इस तरह, निचली जातियों को उनके वैध अधिकार प्रदान करने वाले) संवैधानिक और न्यायिक अधिकारों तक सीमित नहीं कर देना चाहिए. मेरा ख़याल है कि आम्बेडकरी तीर अस्तित्व (जो कि यक़ीनन बहिष्कृत और असमर्थ बना दी गयी है) की हक़ीक़त में बहुत गहरे जाकर धँसता है और अस्तित्व के सबसे कमजोर हिस्से के लिए गरिमा— एक तरह की जेनरिक गरिमा— के उपयोग की माँग करता है. प्रतीकात्मक मोड़ शायद उत्तर-आम्बेडकरी परिघटना है जिसने गरिमा को आरक्षण या प्रतिमाकरण, यहाँ तक कि मूर्तिपूजक उपायों द्वारा एक प्रतीकात्मक दलित अस्तित्व की साझी भावना बना दिया है.

[18] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर (1991), 'गाँधीइज़्म', *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 9 : 297. गाँधी जाति को काल-दोष मानते हैं, अभिशाप नहीं.

[19] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, 'ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट' : 19

[20] फ़रवरी, 1909 के इण्डियन रिव्यू में प्रकाशित आम्बेडकर के लेख 'अ स्ट्रेंज ईवेंट' में प्रकाशित ऐनी बेसेंट के लेख 'द अपलिफ़्ट ऑफ़ द डिप्रेस्ड क्लासेज़' का लम्बा और अरुचिकर उद्धरण, *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 9 : 3-7.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 271

मलामत करना तथा शारीरिक परिश्रम के गुण गाना फ़ुरसतिया वर्गों का अनुराग होता है।[21] इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि शारीरिक श्रम के प्रति गाँधी का अनुराग उतना ही सच्चा था जितना रस्किन का। आम्बेडकर को लगता था कि शारीरिक श्रम के प्रति यह अनुराग फ़ुरसतिया वर्गों के हितों का पोषक है। जाति आधारित मानस से चलने वाले हिंदू (अ)समाज में गाँधी ने श्रम का नया मूल्यांकन करके उसे एक गुण बना दिया और लोगों को मेहनत-मशक्कत के प्रति पुनः प्रोत्साहित किया। झाड़ूबरदारी को विशेषाधिकार के रूप में प्रस्तावित करने के साथ श्रम का यह गुणगान अपने चरम पर पहुँच जाता है। छुआछूत ख़त्म करने की विधि के तौर पर सामाजिक सुधारों के साथ-साथ श्रम को विशेषाधिकार घोषित करने की रणनीति अपनायी गयी ताकि लोग काम के प्रति लगन महसूस करें। सफ़ाई के काम को भी विशेषाधिकार घोषित कर दिया गया, लेकिन काम का वर्गीकरण शास्त्रसम्मत विधि (वर्ण) के अनुसार किया गया, यानी जाति-व्यवस्था के अनुसार। तत्कालीन अवस्था के अंतर्गत शूद्रों और अछूतों को ही यह विशेषाधिकार मिला और फ़ुरसतिया तबक़े उनकी (शूद्रों की) मेहनत का फल खाते रहे।

गाँधी ने प्रौद्योगिकीय आधुनिकता के साथ आ रही तथाकथित फ़ुरसती संस्कृति की भर्त्सना की थी। ... क्योंकि फ़ुरसती संस्कृति आत्म-निर्भरता के सिद्धांत को अपवित्र करती थी। आम्बेडकर की मान्यता थी कि आराम की लानत-मलामत करना तथा शारीरिक परिश्रम के गुण गाना फ़ुरसतिया वर्गों का अनुराग होता है।... आम्बेडकर को लगता था कि शारीरिक श्रम के प्रति यह अनुराग फ़ुरसतिया वर्गों के हितों का पोषक है।

लेकिन हमें समझना चाहिए कि शूद्रों के अभिशाप को उनका विशेषाधिकार बना देने वाला यह यातनादायी तर्क हिंदू-तर्क नहीं है; यह तो एक औपचारिक तर्क है जिसे अरस्तूवादी तर्क भी कह सकते हैं। गाँधी साफ़-सफ़ाई को विशेषाधिकार नियत करते हैं क्योंकि वे इसे मानवता का क़र्ज़ उतारने का एक ज़रिया मानते हैं। उनकी निगाह में साफ़-सफ़ाई का क़र्ज़ सब पर है। या, और भी बेहतर विधि यह निकाली गयी कि क़र्ज़ की नसीहत को शब्दायीडम्बर के ज़रिये इस क़र्ज़ के प्रति प्रेम में बदल दिया गया (गाँधी कहते हैं : मुझे साफ़-सफ़ाई के काम से प्रेम है)।[22] ये निर्देश और शब्दाडम्बर गाँधीवादी ज़रूर हैं, हिंदू हों या न हों। इनका सीधा परिणाम यह निकलता है कि झाड़ूबरदारी शूद्रों पर विशेषाधिकार की तरह आरोपित कर दी जाती है। ऐसा इसलिए हो पाता है कि आख़िर शास्त्र के आग्रहों के साथ-साथ शूद्र की अपनी आदत ने उसे यह काम करने का मौक़ा दिया है। दरअसल शूद्र का जन्मगत-अधिकार बन जाने वाले इस काम की सारी मानवता क़र्ज़दार है और इस क़र्ज़ के साथ ख़ुश है। गाँधी ने अपने पत्र *हरिजन* में 'ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट' पर एतराज़ ज़ाहिर किया था। ऊपर उल्लिखित लेख और गाँधी को लिखे जवाबी पत्रों में आम्बेडकर गाँधीवाद के विरुद्ध एक प्रकार के वैज्ञानिक वाद-विवाद की शुरुआत करते हैं। यह

[21] आम्बेडकर (1991), 'गाँधीइज़्म' : 291.

[22] वही : 292.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 272

अभिधारणात्मक स्तर पर चलाया जाने वाला संघर्ष भी था, क्योंकि आम्बेडकर गाँधीवादी सुधारवादी व्यवहार को नियमित करने वाली झाड़ूबरदारी की शाश्वत और सद्‌गुणशील अभिधारणा अपदस्थ करना चाहते थे।

सवाल यह है कि क्या आम्बेडकर ने भविष्य में घटने वाले सामाजिक समन्वय के बारे में किसी दलित सिद्धांत के मूल विचारों की स्थापना की, ऐसा भविष्योन्मुखी सिद्धांत जिसे सार्वभौम, अप्रतिबंधित और मूलगामी फ़ुरसती सिद्धांत बनना हो? क्या दलितों को पहुँचाए गये आघात, वंशगत रोज़गार के प्रति प्रेम की भावना, इसमें निहित गहरी, एकरस पैतृक पेशेवरी के मोह के जवाब में आम्बेडकर में भविष्य में उभर सकने वाले दलित आभिजात्य के बारे में अप्रत्यक्ष क़िस्म का भविष्यकथन करते हैं?[23] क्या यह फ़ुरसती संस्कृति का एक ग़ैर-अरस्तूवादी सिद्धांत है जिसके प्रणेता ज़रूरी नहीं कि ग़ुलाम, औरतें, मज़दूर और संगीतकार (जिन्हें नागरिक सुनें, गुण-दोष विवेचना करें लेकिन उनका अनुकरण कभी न करें) हों?[24] मैं ऐतिहासिक यथार्थ की रोशनी में आम्बेडकर से लेकर 1950 के दशक से जुड़ने वाले इस सूक्ष्म भविष्य-कथन के सत्यापन का प्रयास नहीं करूँगा। अति-सामान्यीकरण का ख़तरा उठाते हुए सिर्फ़ इतना भर सुझाना चाहूँगा कि आम्बेडकरवादी ऐतिहासिक सीमा-रेखा के लिए यथार्थ का अर्थ वह मुक़ाम है जब सब पुरानी आदतों को ध्वस्त और निरस्त कर दिया जाएगा और नयी आदतें उभरनी शुरू हो जाएँगी। सिर्फ़ आदत डाल भर लेने के लिए ढूँढ़ ली गयी आदतें नहीं, बल्कि ऐसी आदतें जो कि नये उद्देश्य पाने की दिशा में किये जा रहे सार्थक प्रयोग हों।[25]

II

यह सच है कि संविधान सभा में ऐसा कोई फ़ैसला नहीं लिया गया था, पर उसकी शुरुआती बहसों में अभिव्यक्त नज़रिया राजनीतिक और सामूहिक सहभागिता के एक पुनर्विन्यस्त दिगंत की सम्भावना इंगित करता है। यह सम्भावना एक सीमित दायरे में जातिगत पृथकताओं के तहत कार्यरत राजनीतिक कर्ता को 'अशुद्ध' बना रही थी। ऐसा सतत अशुद्धीकरण गणतंत्रीय उद्देश्यशीलता की दिशा में एक नया प्रयोग और दरअसल संविधान का मुख्य मक़सद था। इस उदीयमान गणतांत्रिक दिगंत में निहित एकता और पृथकता व पदानुक्रमिकता को अगोचर कर देने वाले आयामों ने डॉ. आम्बेडकर को अवश्य ही प्रेरित किया होगा। फिर भी मुझे लगता है कि इसके बावजूद और बाद में भी लोगों के भीतर समाज में विद्यमान अलगाव के बारे में चेतना भरने के काम में पूरी तन्मयता के साथ लगे रहे। आख़िरकार वे जाति की पहेली को सुलझाने का कार्यभार पूरा करना चाहते थे। यह काम अधूरा रहने की सूरत में संवैधानिक राजनीतिक स्व-शासन की सभी परियोजनाएँ एक सामाजिक और अस्तित्वमीमांसक अंधे मुक़ाम तक पहुँच कर रुक जातीं।

अगर ऐसा होता तो जाति प्रथा के प्रणालीगत निशान तो मिट जाते लेकिन ख़ुद इस अंधे मुक़ाम से परे जाना सम्भव नहीं होता। जब सामाजिक जीवन जाति प्रथा जैसी सामाजिक विसंगति से पटा

---

[23] एन्ड्रयू फोर्ड : 117.

[24] गाँधी ने 'ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट' के जवाब में इस पदबंध का इस्तेमाल किया था. बाद में आम्बेडकर ने अपने जवाबों में लहज़ा और भाव बदल कर बार-बार इसका इस्तेमाल किया है.आम्बेडकर के यहाँ यह स्वीकारात्मक या अनुग्रहपूर्ण नहीं है बल्कि खण्डनात्मक है.

[25] डेविड ह्यूम के बारे में एक बेहतरीन अध्ययन के लिए देखें ज़ील डलज़ (1991), *एम्पिरिसिज़्म ऐंड सब्जेक्विटिविटी : ऐन एसे ऑन ह्यूम्स थियरी ऑफ़ ह्यूमन नेचर*, अनु. कोंस्तांतिन बौंदास, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क. यह रचना आदत, प्रथा, कल्पना और सत्य का संयोजित अध्ययन करती है. इस संयोजन का आदत के साथ अंतर्विरोध नहीं है बल्कि इसे तो आदत की जरूरत है, लेकिन साथ ही यह कल्पना (आदत जिसे स्पष्ट रूप देती है) और सत्य के बीच सुसंगति के एक स्तर को मानक तय कर उस मानक के हिसाब से आदत को नियंत्रित-नियमित भी करता है.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 273

पड़ा हो, एक विवेकसंगत और सोद्देश्य अवस्थिति के तहत एक राजनीतिक (और न्यायिक) संविधान कार्यान्वित किया भी कैसे जा सकता था। इस दुविधाग्रस्त परिस्थिति से ही आम्बेडकर इस पूर्वानुमान तक पहुँचे कि आज़ादी के बाद गणतांत्रिक भारत अंतर्विरोधों के क्षेत्र में दाख़िल हो रहा है जहाँ समतावादी संवैधानिक मूल्यों और विषमतावादी सामाजिक संरचना के बीच का अंतर्विरोध देश को अनर्थ में धकेल देगा।[26] इसी वज़ह से उन्होंने खिन्न भाव से समाज के प्रभुत्वशाली हितों को सलाह दी कि उन्हें अल्पसंख्यकों और कमज़ोर तबक़ों का शुक्रगुज़ार होना चाहिए कि वे आरक्षण के संविधानिक समझौते पर राज़ी हो गये और उन्होंने आयरलैंड के अपने हमदर्ज़ा लोगों की तरह सीधी कार्रवाई का रास्ता नहीं अपनाया।[27] इसी के फलस्वरूप संवैधानिक क्षितिज पर हम एक दुविधाग्रस्त व्यक्तित्व को उभरते हुए देखते हैं जो निश्चित भी है और अनिश्चित भी : आज़ादी, बराबरी, भाईचारे जैसे आदर्शों और मूल्यों की उपलब्धि के अहसास की तरफ़ से निश्चित और जाति-व्यवस्था की अनादिकालीन अंधी-गली की चुनौती के विरुद्ध इन आदर्शों को पाने की सम्भावना के बारे में कारुणिक रूप से अनिश्चित।

ऐसा मालूम होता है मानो आम्बेडकर एक साथ दोनों हाथों से लिख रहे हों— एक हाथ से धीर, लगभग व्यंग्यात्मक ऊर्जा के साथ संविधान का मसविदा लिखा जा रहा हो, और दूसरे हाथ से त्रासद पारदर्शिता और आग्रह के साथ इस युगों पुरानी आदत (जाति-प्रथा) की आलोचना रची जा रही हो। यहाँ मैं उनके एक तीसरे अवयव— विचार नामक अशरीरी अवयव— की गतिविधि कल्पित करना चाहूँगा जिसके ज़रिये आम्बेडकर हिंदू शास्त्र ही नहीं उदारतावादी राजनीतिक समझ का क़र्ज़ चुकाने से इनकार करते हुए दिखते हैं, हालाँकि उन्होंने इन दोनों विषयों की विवेचना समान प्रबलता और विस्तार के साथ नहीं की है। चूँकि आम्बेडकर द्वारा हिंदू धर्म का परित्याग और उनका धर्म-परिवर्तन प्रसिद्ध घटनाएँ हैं, इसलिए मैं यहाँ पश्चिमी उदारतावादी लोकतंत्र द्वारा अनुग्रहस्वरूप थमाए गये राजनीतिक कर्ता और उससे उद्भूत होने वाली सम्प्रभुता के प्रति आम्बेडकर द्वारा अपनाए गये ऋण न चुकाने वाले रवैये की चर्चा करना चाहूँगा।

मैंने इस लेख में पहले राजनीतिक कर्ता अरस्तूवादी संरचना के स्वयंसिद्ध मर्म की प्रस्तुति की है और दिखाया है कि किस तरह यह कर्ता एक क़िस्म की जेनरिक सम्प्रभुता और विधेयात्मक क्षमता के गठजोड़ और उनके बीच की आवाजाही से निर्मित हुआ है। उदारतावादी लोकतंत्र इस जटिल तंत्र का ही एक संघटक है। मैं यह भी ज़िक्र कर चुका हूँ कि अरस्तूवादी घटनाक्रम एक मूलभूत युग्म— जो कि सातत्यपूर्ण है, मनुष्य एवं प्राणी इसके दो रचनात्मक पद हैं— को अनेकार्थक बनाने, उसका उपयोग करने और उसके पुनर्विन्यास की क़वायद है। अरस्तू के यहाँ व्यक्ति का मानव बनना और प्राणी का राजनीतिक बनना दोनों ही बातें समान हैं। ज़ेवियर बिशात ने, जो राजनीतिक दार्शनिक न हो कर एक शरीर-क्रियाविज्ञानी थे, फ्रांसीसी क्रांति के दौरान मानव चेतना की आधुनिक संज्ञानात्मक कायिकी का मॉडल प्रदान किया था। यह मॉडल अरस्तू द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक प्राणी में निहित वाक्-शक्ति को मानक मानने वाले मॉडल की प्रतिकृति जैसा लगता है। दोनों में फ़र्क़ यह है कि ज़ेवियर के मॉडल में वाक्-शक्ति एक ऐसी अभिव्यक्तिशील और संज्ञाशील चेतना से सम्पन्न है जो

---

[26] देखें, (पुरातन) भारत की धारणा के लबादे में छुपा कर एक भारतीय विचारधारा की स्थापना के नये विजयोल्लासी (एटमी) प्रयासों की हवा निकालने के लिए पेरी एंडरसन द्वारा *लंदन रिव्यू ऑफ़ बुक्स* में प्रकाशित लेख. देखें पेरी ऐंडरसन, आफ़्टर नेहरू, http://www.irb.uk/v34/n15/perry.anderson/after.nehru : 5. आम्बेडकर को उद्धृत करने के बाद ऐंडरसन कहते हैं कि बिना शर्त समानता के प्रमुख पैरोकार इस मामले में ग़लत साबित हुए, क्योंकि आम्बेडकर के बाद से दूसरे कुछ पहलुओं के साथ-साथ जातिगत विषमता भारत में लोकतंत्र के लिए लाभकारी साबित हुई है.

[27] आम्बेडकर, 'ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट' : 40-43.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 274

आत्मसातीकरण और उत्सर्जन तक महदूद रोज़मर्रा के जीवन से मुक्त हो चुकी है। पदसोपानिक और स्वतंत्र संबंधों का यह जीवन रोज़मर्रा की इस एकरसता का विलोम है। बिशात एक वानस्पतिक दैहिक जीवन— संबंधों के एक प्राणी-जीवन— के बारे में लिखते हैं जो महसूस करता है, अनुभूतिक्षम है, अपने मनोवेगों पर चिंतन करता है और ... जिसे उसकी वाक्-शक्ति बार-बार अपनी इच्छाएँ और डर, खुशियाँ और दर्द अभिव्यक्त करने में समर्थ बनाती है।[28] जैविक रूपांतरण का सोपनीकरण— जैसा कि मैं सुझा चुका हूँ— रूपांतरण की एक राजनीतिक रूपरेखा भी है। यह मानव संकल्प को पूरी तरह से मस्तिष्कीय जीवन की तरफ़ ले जाती है, लेकिन इसकी संगति भावावेगों के साथ वर्गीकृत रूप में अब भी बनी रहती है।[29] इस तरह लगभग हर चीज़ और हर व्यक्ति का राजनीतीकरण किया जाता है, बहिष्कार को आत्मसात् कर लिया जाता है गोकि इसके चिह्न बने रहते हैं। यह मॉडल आकर्षित भी करता है और हतोत्साहित भी। सब कुछ का— उच्चतम प्रमस्तिष्कीय संकल्प समेत— दैहिक रूपांतरण कर दिया जाता है, जबकि हर दैहिक स्तर एक प्रकार की अनंत आभासिकता द्वारा अस्तित्व पाता है।

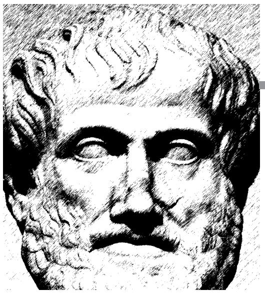

> अरस्तू के यहाँ व्यक्ति का मानव बनना और प्राणी का राजनीतिक बनना दोनों ही बातें समान हैं। ज़ेवियर बिशात ने, जो राजनीतिक दार्शनिक न हो कर एक शरीर-क्रियाविज्ञानी थे, फ्रांसीसी क्रांति के दौरान मानव चेतना की आधुनिक संज्ञानात्मक कायिकी का मॉडल प्रदान किया था। यह मॉडल अरस्तू द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक प्राणी में निहित वाक्-शक्ति को मानक मानने वाले मॉडल की प्रतिकृति जैसा लगता है।

जीवन के विज्ञान और राजनीति के जीवन की उपरोक्त समरूपता दो संयोजकों या युग्मों— परिसमन-रूपांतरण और बाह्यता-आत्मपरकता द्वारा अंतरित की जाती है। ये युग्म एक-दूसरे से इस तरह से विलगित और अंतर्गुम्फित होते हैं कि हर रूपांतरण बाहरी सीमाओं के एक तारामंडल के नीचे घटता है और प्रत्येक सीमा को होने की प्रक्रिया में निहित प्रेरणा में रूपांतरित कर दिया जाता है : यह है जीवन का मानव-होना, व्यक्ति का राजनीतिक-होना; कुछ इस तरह से कि जीवन की सीमाएँ या उसकी बाह्य सामर्थ्य सम्प्रभुता कर्ता में रूपांतरित हो कर अनंत रूपों में पदसोपानिक सम्भावनाओं से युक्त होती है। यह रूपरेखा आधुनिक जैव-राजनीति के साथ क्लासिकल अरस्तूवाद के सहअस्तित्व को दर्शाती है। ऐसा महसूस होता है कि इस पश्चिमी तर्क-शास्त्र ने राजनीतिक क्षेत्र को अघा जाने की हद तक सराबोर कर दिया है।[30]

---

[28] देखें, ज्याँ स्तैरोबिंस्की, *एक्शन ऐंड रिएक्शन : द लाईफ़ ऐंड ऐडवेंचर ऑफ़ अ कपल,* अनु. : सोफी हाक्स, ज़ोन बुक्स, न्यूयॉर्क : 129-130.

[29] वही : 130.

[30] इसका यह मतलब नहीं कि जियोर्जियो अगम्बेन की बेहद महत्त्वपूर्ण अवधारणा का महत्त्व कम हो जाता है. उनका मत है कि पश्चिमी राजनीतिक तर्कणा की शुरुआत सम्प्रभुता और सामर्थ्य के तर्क के परित्याग के साथ होती है, सम्प्रभुता के सशक्तीकरण और संघटन के राजनीतिक आह्वान के प्रत्येक स्तर पर उसका (सामर्थ्य का) पुन: आह्वान किया जाता है. कहा जा सकता है कि जाति जैसी ऐतिहासिक और सामाजिक रूप से बेगानी संरचना के संदर्भ में इस तरह के पुन: आह्वान और परित्याग की पोल खुल जाती है— सम्प्रभुता के इस स्वाँग का दूसरों के सामने भाँडा फूट जाता है (सिर्फ़ हिंदू ही इस स्वाँग को नज़रअंदाज़ कर पाते हैं क्योंकि वे, बकौल आम्बेडकर, न कुछ देखते हैं, न सुनते हैं, न महसूस करते हैं, न सोचते हैं).

उपरोक्त विभेदक मॉडल एवं हिंदू जाति-व्यवस्था की पदसोपानिक सम्प्रभुता की व्यवस्था के संबंध में आम्बेडकर की धारणा के बीच स्पष्ट सादृश्य है। लेकिन आम्बेडकर का ज़ोर हिंदू व्यवस्था की अपवाद स्थिति पर अधिक है। अतएव, बतौर निष्कर्ष मैं जानना चाहता हूँ कि इस अपवाद की प्रकृति क्या है और इस अलगाव के सार्वभौम और जेनरिक पहलू क्या हैं ? अपनी पुस्तक हू *वर द शूद्राज़ ?* — जिसका शीर्षक 1789 में रचित इमानुएल सीएस की पुस्तक *व्हाट इज़ द थर्ड एस्टेट ?* [31]— से मिलता-जुलता है, में आम्बेडकर मानव के प्राकृतिक रूप से राजनीतिक प्राणी होने वाली यूनानी अवधारणा विकसित करते हुए रोमन क़ानून में मौजूद इसकी विभेदक और सशक्तीकरण कर सकने वाली हक़ीक़त पर रोशनी डालते हैं। उन्होंने दर्शाया है कि पैट्रीशियन-प्लेबियन (अभिजात वर्ग-निम्न वर्ग) श्रेणीबद्धता की स्थिति के दौरान रोमन नियम संहिता ने सामाजिक गतिशीलता के सिद्धांत को जगह दी, उसे बनाए रखा ताकि विधिक और सामाजिक व्यक्तित्वों को पदसोपानीय व्यवस्था के तहत भिन्न-भिन्न दर्जे दिये जा सकें। रोमन क़ानून विभिन्न नागरिकों को अलग-अलग मात्रा में वैधानिकता प्रदान करके व्यक्ति में आत्मपरकता का संचार करता है ताकि महज़ कला के ज़रिये व्यक्तित्वहीन से ऊपर न उठ पाने वाले निम्नवर्गीय जनों और ग़ुलामों को भी अरस्तूवादी भाव-विरेचक सीमा-रेखा से ऊपर उठने का अवसर मिल पाए।[32] इसी तरह, अगर कोई अभिजात (पैट्रीशियन) समाज के सामने कोई निंदनीय कार्य करता है तो रोमन क़ानून उसे दण्ड का भागी बना सकता था और इस तरह वह व्यक्ति आत्मपरकता की सीमा-रेखा से नीचे गिर जाता था।[33] तो क्या आम्बेडकर, और उनके बाद का इतिहास, जाति-व्यवस्था के अंतर्गत निचली जातियों के निम्नवर्गीकरण/प्लीबियनाइजेशन की सम्भावना देखते थे ?[34]

आम्बेडकर का मानना था कि ब्राह्मणीय विधान की कठोरता के अंतर्गत तो ऐसा सम्भव नहीं है। ये कठोरताएँ मूर्तिभंजक ईसाइयों के अक्रीबिया[35] (मूसाई विधानों के शुद्ध रूप में पालन) के समान इसलिए गढ़ी गयी थीं ताकि समाज में किसी भी तरह की कार्रवाई और कुछ भी घटने की सम्भावना ख़त्म कर दी जाए। जातिगत पहचान और स्तर का अनंतकाल तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरण वह ब्राह्मणवादी तकनीक थी जिसके द्वारा इस सख़्ती को बनाए रखा गया। लेकिन प्राचीन रोम में एक

---

[31] यहाँ मैं इस अवधारणा को आगे नहीं बढ़ाऊँगा, हालाँकि मैं इसे एक बेहतरीन अवधारणा मानता हूँ. लेकिन मुझे लगता है कि यह अवधारणा हमें एक अलग ही दिशा में ले जाती है जहाँ यह आम्बेडकर को भारतीय इतिहास के टॉकवील के सदृश बना देती है.

[32] लेख को संक्षिप्त रखने के लिहाज़ से मैं आम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत रोमन क़ानून और ब्राह्मणीय विधि-संहिता की तुलना को विस्तार से प्रस्तुत नहीं करूँगा. लेकिन इस विषय की तफ़सीलात हासिल करना महत्त्वपूर्ण रहेगा। बेहतर रहेगा अगर पाठक आम्बेडकर की पुस्तक पढ़ें, लेकिन इतना तो इंगित कर ही दिया जाए कि आम्बेडकर आकस्मिकता को दोनों ही संहिताओं के बीच का मुख्य अंतर मानते हैं। रोमन संहिता ने आकस्मिकता को जगह दी थी. लेकिन रोमन क़ानून चूँकि क़ानून है, इसलिए इसे इस आकस्मिकता को एक लचीली लेकिन सुस्थापित संहिता के तौर पर समाहित करना होता है. तो क्या आम्बेडकर इस तरह के प्रावधान को आदर्श राजनीति मानते हैं ? मेरा सुझाव है कि यह आदर्श राजनीति नहीं है और आम्बेडकर का कहना है कि ऐतिहासिक संयोग को किसी भी संविधान के लिए चुनौती के तौर देखना चाहिए. देखें, आम्बेडकर, 'हू वर शूद्राज़' , वसंत मून (सम्पा.) (1990), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचेज़,* खण्ड 7, एजुकेशन डिपार्टमेंट, महाराष्ट्र सरकार, बंबई : 57-64.

[33] यह एग्जिस्तिमेशियो या क़ानून की नज़र में हैसियत से गिर जाना कहलाता है. वर्जित कार्य करने से नागरिक की हैसियत गिर जाती थी— व्यक्तित्व वाले या बा-हैसियत नागरिक के लिए मंच पर चलना भी वर्जित कार्यों में शामिल था.

[34] मैं आज़ादी के बाद के भारत में इस तथाकथित प्लेबिनाइज़ेशन/निम्नवर्गीकरण की प्रक्रिया, ख़ासतौर से चुनावी क्षेत्र का अन्वेषण नहीं करूँगा। लेकिन निचली जातियों के निम्नवर्गीकरण (एवं नस्लीकरण) और इससे संबंधित अध्ययन के लिए देखें क्रिस्टॉफ़ जैफ़्लो (2010), *रिलीजन, कास्ट ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* प्राइमस बुक्स, नयी दिल्ली.

[35] मध्यकालीन ईसाई युग में मूर्तिभंजकों और मूर्तिप्रेमियों के बीच मूर्ति-पूजा के मुद्दे पर चले सैद्धांतिक झगड़े के संबंध में अक्रीबिया और ओइकोनोमिया (सत्ता की एक तरह की लचीली अर्थनीति) के बारे जानने के लिए देखें मारी-जोसे मोंदजैन (2005), *इमेजिज़, आइकॅन, इकॉनॉमी : द बाईजेंटियन ऑरिजिंस ऑफ़ द कंटेम्परारी इमैजिनरी,* अनु. रिको फ्रांसेस, स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 276

अलग तकनीक अपनाई गयी : यह अतिसीमित लेकिन अद्‌भुत रूप से प्रभावशाली तकनीक थी जिसके तहत विधिक व्यक्तित्व की संस्थिति निर्धारित कर दी जाती थी। इसी बिंदु पर आम्बेडकर के लेख 'हू आर द अनटचेबिल्स?' का अवलोकन करने पर हम पर कठोर ब्राह्मणवादी पदसोपानीय व्यवस्था की एक अद्‌भुत वृत्ति का ख़ुलासा होता है।

इस लेख में आम्बेडकर 1935 के एक सर्वेक्षण के हवाले से भारत के तमाम प्रांतों में मौजूद अनुसूचित जातियों की एक सूची पर बात करते हैं। वे इसे एक दिल दहला देने वाली सूची क़रार देते हैं।[36] क्यों? क्योंकि इस सर्वेक्षण के मुताबिक़ हिंदू जाति-व्यवस्था की गतिहीन, कठोर सीमा-रेखा के नीचे— और यह कोई सीमारेखा नहीं बल्कि जीता-जगता नरक है— 429 समुदाय रहते हैं। यह दहला देने वाली संख्या उस वंचित, बेसहारा समुदाय का यथार्थ है। और, साथ ही यह संख्या आँकड़ेबाज़ी का शोशा भी है जो कि मानव होने की तुलना में मात्र प्राणी होने में निहित अपमान अभिव्यक्त नहीं करती। बल्कि यह तो अस्तित्व की गणना है जो पूरी संख्या को न गिनती है न अभिव्यक्त ही करती है क्योंकि निचली जातियों के अस्तित्व को, आम्बेडकर के शब्दों में, मानवता के प्रमाणपत्र से महरूम किया जा चुका है।[37] इसका मतलब यह है कि यह सिर्फ़ और सिर्फ़ मानव-होने की अवस्था है, हालाँकि यहाँ सतत या औपचारिक मानवता का कोई निशान तक नहीं मिलता। इस तरह से यह असंगत रूप से मानव होने की अवस्था है। अतएव, पश्चिमी प्रारूप-वर्गीकरण के वानस्पतिक, प्राणी और मानव वाले द्वि- या त्रि-विभाजन के ढाँचे के बरअक्स यह अनादिकालीन ब्राह्मणवादी विधान अधिक कठोर और व्यापक है। हालाँकि ऊपरी तीन वर्णों (द्विजों) के बीच की रिसावदार अर्थव्यवस्था के संबंधों में भी इसकी झलक मिल जाती है, लेकिन यह व्यवस्था निम्नतम वर्ग (शूद्र) पर ही सबसे भारी है और, आम्बेडकर की भविष्यवाणी के अनुसार, यह चतुर्थ वर्ण ही निचली जातियों के अस्तित्व का सम्भावित विवर्तनिक क्रीड़ा-स्थल है। जातियों, उप-जातियों और बहिष्कृत जातियों में समाज को बाँट देने का यह खेल दरअसल जातियों को एक जगह (और अनादि-अनंत काल तक) स्तरीकृत कर देने का खेल है। हालाँकि यह खेल परिसीमन, रूपांतरण और संविधान आधारित पश्चिमी राजनीति का सहज उपादान नहीं है— फिर भी आम्बेडकर इसरार करते हैं कि हर संविधान को अपने समाज में व्याप्त शक्ति-संतुलन अभिव्यक्त करना चाहिए।[38] अतः, पिछड़े वर्गों/जातियों को मिला आरक्षण दरअसल संविधान में अभिव्यक्त भारतीय समाज के प्रतिबिम्ब के तौर पर काम करेगा और यह दर्शाएगा कि संविधान का रूप भले ही उदारतावादी-पश्चिमी है, फिर भी यह संविधान और इसमें निहित आरक्षण का प्रावधान उदारतावादी-पश्चिमी संवैधानिक दर्शन और आदत के प्रति प्रतिरोध का सूचक है।

लेकिन आम्बेडकर के जीवन और सक्रियता के आख़िरी दिनों तक आते-आते परिस्थितियाँ विरोधाभासी शक्ल अख़्तियार कर चुकी थीं— कभी नाजुक, कभी वैमनस्यपूर्ण और कभी एक साथ

---

[36] आम्बेडकर, 'हू वर अनटचेबिल्स?' , वसंत मून (सम्पा.) (1990), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचेज़,* खण्ड 7, एजुकेशन डिपार्टमेंट, महाराष्ट्र सरकार, बम्बई : 265. 1935 में भारत सरकार द्वारा तैयार की गयी इस सूची के बारे में जो चीज़ आम्बेडकर को भयभीत करती है वह है इस सूची का सम्पूर्ण अलगाव. ग़ुलाम और मालिक, प्राणी और मानव, विदेशी और नागरिक की कल्पना दोनों के बीच की एक क्लासिकल अर्थव्यवस्था— और नाट्य-विधान का निर्वाह करती है. यह मानव अलगाव का भयावह नाटक है.

[37] देखें, आम्बेडकर, 'व्हाट डू द अनटचेबल्स से?' : 269. पुनः, सामाजिक सुधार की तरफ़ गाँधी के प्रयासों के संदर्भ में आम्बेडकर का मानना है कि इस प्रक्रिया में अधिकार की एक अमूर्त-सी अवधारणा भर दाँव पर नहीं लगी है बल्कि दाँव पर है एहसानमंद महसूस न करने की आदत जिसका लाज़मी तौर पर निर्वाह किया जाना चाहिए. यह ऋणग्रस्तता की पुरानी ब्राह्मणीय आदत का स्वीकरण नहीं है. मैं इसे ऋण चुकाने से इनकार करने की एक नयी परियोजना कहना चाहूँगा.

[38] सामाजिक शक्तियों के संघटन के बारे में लासाल के उद्धरणों के बारे में देखें, 'ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट' : 42.

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 277

दोनों ही। अपने शुरुआती दिनों में आम्बेडकर ने कोलम्बिया यूनिवर्सिटी में एक शोध-प्रबंध *कास्ट्स इन इण्डिया* लिखा था। इस शोध-प्रबंध में आम्बेडकर ने जाति-व्यवस्था का निदान सुझाया था। उनका कहना था कि जाति-व्यवस्था, जिसके युगों लम्बे और विशाल ढाँचे ने समाज के गोशे-गोशे में दख़ल बना रखा है, एक ऐतिहासिक संयोग भी है।[39] उनके अनुसार यह इतने विशाल स्तर पर आयोजित किये जाने वाले इस कार्य, साजिश और संयोग के कारण जाति एक सहज व्यवस्था, क़ानून और आदत बन कर व्यक्ति के सोच में पैबस्त हो गयी है। अपने इस शोध-प्रबंध के बाद से आम्बेडकर ने जाति-व्यवस्था के ख़िलाफ़ खुल कर आग्रह करने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ा। उनका यह आग्रह कभी-कभी एक माँग का रूप भी ले लेता था। उनका आग्रह और माँग थी कि जाति व्यवस्था को एक ऐतिहासिक संयोग माना जाए, इसका विश्लेषण किया जाए और इससे छुटकारा पाया जाए। उनका कहना था कि इसका विनाश न सिर्फ़ अपनी आज़ादी और समानता की तलाश में लगे भारतीय इतिहास के सामने मुख्य प्रश्न बनना चाहिए बल्कि हर परिभाषा, मॉडल और विधान का भी मुख्य प्रश्न होना चाहिए। आम्बेडकर के अनुसार जाति-व्यवस्था का ऐतिहासिक संयोग बहुविध कारणों के संयोग के कारण एक अबूझ पहेली और डरावने मंज़र में बदल चुका है। यह हर क़िस्म की राजनीति से आग्रह और माँग करता है कि वह (राजनीति) सम्प्रभुता और सामर्थ्य के प्रति अपने क़र्ज़ की अदायगी और उससे इनकार करने की अपनी कवायदों में मुब्तिला रहने के साथ-साथ, कम से कम इस बार विचार और संयोग से लैस हो कर, मार्क्स के शब्दों में, अपनी पेचीदगियों को दुनिया के साथ अंतर्गुम्फित करेगी।[40]

संदर्भ

अरिस्टोटल, *पॉलिटिक्स,* लुई रोप्स लूमिस (सम्पा.), *अरिस्टोटल : ऑन मैन इन द युनिवर्स,* रोज़लिन, न्यूयॉर्क.

एंड्रयू फ़र्ड (1995), 'कैथार्सिस : द एंशिएंट प्रॉब्लम', एंड्रयू पार्कर एवं ईव कोसोफ्सकी (सम्पा.), *पर्फ़ॉर्मिटिविटी ऐंड पर्फ़ॉर्मेंस,* रॉटलेज, लंदन तथा न्यूयॉर्क.

क्रिस्टॉफ़ जैफ्रलो (2010), *रिलीजन, कास्ट ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* प्राइमस बुक्स, नयी दिल्ली.

डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, 'कास्ट इन इण्डिया तथा ऐनहिलेशन ऑफ़ कास्ट', वसंत मून (सम्पा.) (1989), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 1, बोम्बे एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र.

डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, 'अ प्ली टू द फॉरनर', वसंत मून (सम्पा.) (1991) *राइटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 9, बोम्बे एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र.

डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर (1991), 'गाँधीइज़म', *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचिज़* : खण्ड 9.

डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, 'हू वर शूद्राज़', वसंत मून (सम्पा.) (1990), *राईटिंग्ज़ ऐंड स्पीचेज़,* खण्ड 7, एजुकेशन डिपार्टमेंट, महाराष्ट्र सरकार, बम्बई.

ज्याँ स्तैरोबिंस्की, *एक्शन ऐंड रिएक्शन : द लाइफ़ ऐंड ऐडवेंचर ऑफ़ अ कपल,* अनु. सोफी हॉक्स, ज़ोन बुक्स, न्यूयॉर्क.

---

[39] इस तर्क के लिए कि जातियाँ एक ही जाति से खण्डित होकर बनी हैं और जाति-व्यवस्था के विभिन्न खण्डों की अनादिकालीन श्रेणीबद्धता उपरोक्त तर्क की ऐतिहासिक वैधता का आभास देती है, देखें, आम्बेडकर, 'कास्ट्स इन इण्डिया', *राइटिंग्ज़ ऐंड स्पीचेज़,* खण्ड 1 : 22.

[40] मैं यहाँ संयोग या घटनाओं का सिद्धांत प्रस्तुत नहीं करूँगा। लेकिन आकस्मिकता के परिणामों को समझने के लिए— जो कि आकस्मिकता को अनिवार्यता और नियति के रूप में बदल देते हैं— यह क़वायद जरूरी है। यह ऐतिहासिक रूप से अ-योजनीय कार्यों के बारे में नये सिरे से सोचने में समर्थ बनने के लिहाज़ से भी ज़रूरी है। मेरे ख़याल से इस बारे में बहुत प्रमाण मिल जाएगा कि आम्बेडकर ने भारत में रेलवे के आगमन को ऐसा ही एक ऐतिहासिक संयोग माना था जिसने कालातीत जातिगत-पृथक्करण

20_saumybrat:Layout 1 5/7/2014 2:55 PM Page 278

ज़ील डलज़ (1991), *एम्पिरिसज़म ऐंड सब्जेक्विटिविटी : ऐन एसे ऑन ह्यूम्स थियरी ऑफ़ ह्यूमन नेचर,* अनु. कोंस्तांतिन बौंदास, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.

पेरी ऐंडरसन, *आफ़्टर नेहरू,* http://www.irb.uk/v34/n15/perry.anderson/after.nehru.

मारी-जोसे मोंदजैन (2005), *इमेजिज़, आइकॅन, इकॉनॉमी : द बाईजेंटियन ऑरिजिंस ऑफ़ द कंटेम्परारी इमैजिनरी,* अनु. रिको फ्रांसेस, स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

सरबनी सेन (2007), द *कांस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया : पाप्युलर सॉवरेनिटी ऐंड डेमॉक्रैटिक ट्रांसफ़ार्मेशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.